

फटी हुई जीभ की दास्तान

बद्री नारायण

महत्वपूर्ण कवि, इतिहासकार एवं बुद्धिजीवी बद्री नारायण के इस लेख पर बहस आमंत्रित है।

फटी हुई जीभ की दास्तान कहने के पहले कुछ मिन्नतें कर लूं। इस आलेख में बौद्धिकता, साहित्यिक विचार, अभिरुचियां और पसंद बनने की प्रक्रिया को मैंने अपने समय में स्वयं को अवस्थित कर देखने की कोशिश की है। इस आलेख में सिर्फ साहित्यिक विमर्श ही नहीं है अपितु उत्तर औपनिवेशिक भारत में निर्मित हो रही बौद्धिकता तथा सामाजिक एवं जनतात्रिक विमर्श से होते हुए साहित्य तक पहुंचा गया है। कृपया इसको साहित्यिक विमर्श पर सामाजिक विमर्शों के आरोपण के रूप में न देखें, यहां सम्पूर्ण (होलिस्टिक) रूप से एक विमर्श करने की कोशिश की गयी है। ऐसा नहीं है कि यह काम मैं ही करना चाह रहा हूं और यह चिन्ता सिर्फ हमारे समाज की है। न्यूगी गा थ्योंगों ने केन्या के समाज एवं साहित्य को, आशीष नंदी ने भारतीय समाज की पश्चिमी निर्मिति को, कवि आक्टोवियोपॉज तथा अन्य अनेक ने अपने समाज की बौद्धिकता और व्याख्याओं को समझने का प्रयास किया है। हिन्दी में भी रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, निर्मल वर्मा आदि ने अपने अपने ढंग से साहित्य समाज की व्याख्याओं के बौद्धिक आधारों को समझने की कोशिशें की हैं। इस आलेख को उसी प्रयास की कड़ी के रूप में देखा जाय। एक समय में सम्बंधों एवं संवादों की जटिल प्रक्रिया में से कुछ प्रवृत्तियों के अंकन की हमारी यह छोटी सी कोशिश है; इसे नगर एवं ग्राम, लोक एवं आभिजात्य जैसे सरल द्विपद विरुद्धों (बाइनरी अपोजिट्स) के रूप में न देखें। साहित्यिक पाठों पर सतही मूल्यगत निर्णय देने से अपने आपको बचाते हुए मैंने पाठों के संदर्भ की निर्माण प्रक्रिया पर कुछ बातें कहनी चाही हैं। फटी जीभ यहां औपनिवेशिक आधुनिकता की कील से फटी, जुड़ी एवं नये रंग में दिखती विमर्श की प्रक्रिया में निहित अंतर्विरोधों की द्योतक है। यह बयान करते हुए मैं यह भी अर्ज करना चाहूंगा कि मेट्रोपोल की आलोचना का तात्पर्य यहां यह नहीं है कि हाशिया, स्थानीय या लोक को हम पवित्र स्पेस मानते हैं। इनके अपने अंतर्विरोध हैं, जिन पर मैंने थोड़ा इशारा यहां किया है, अलग से इस पर कभी और बात करेंगे।

हम फटी हुई जीभों के देश में रहते हैं। और जीभ को फाड़े जाने के दर्द का अहसास भी तभी होता है जब कोई गैर कराये। इसके बाद भी हम फटी हुई जीभों के बारे में भूल जाते हैं, हमारी जीभों के फटे होने पर हमें दर्द होता है और यह फटना विश्व बाजार में रूपंकर रूप ग्रहण कर लेता है। इसे जाना जा सकता है, कई बार इसके रंग से यथा आधी काली आधी गोरी, गोरी में काली जिह्वा का भाग। किन्तु इनके बीच में कील खिंचने से हुआ विभाजन अदृश्य सा होता है। जीभों का यह फटना दिमाग के विखंडन से जुड़ा है। पहले विखंडन, फिर ऐसा जोड़ जिसमें जोड़ तो दिखे पर उससे

एक मारक संकरता (हाइब्रिडिटी) निर्मित हो, जो खुद को तथा दूसरों को भी प्यारी लगे, कुछ इस तरह से जीभों के फटने की प्रक्रिया के इतिहास को समझा जा सकता है।

वह कील जिसने हमारी जीभों को चीरा वह हमारे देश में नहीं बनी, वह निर्मित हुई लंदन, पेरिस, अमस्टर्डम एवं पुर्तगाल में और आज भी हमारे सपनों, आकांक्षाओं और अरमानों में बसी हुई है। वह छिपी रहती है मन, आत्मा, एवं दिमाग में। उसका हम विरोध करें तब भी वह जीवंत होती है, समर्थन करने पर तो सजीव होती ही है। कई बार लगता है उसके होने से हम होते हैं और हमारे होने से वह होती है। हमारी जिह्वा पर वह रहती है जिह्वा को चीरती हुई। हमारी जीभ और उसको चीरने वाली कील का यह सम्बंध वैसा ही है जैसा जिस चाकू से हमें मारा जाय उसी चाकू को हम प्यार करें। हमारे बच्चे बड़े होते हैं और स्कूलों में जाते हैं तो इन नौनिहालों की जीभों में यह कील धंस जाती है। वे भले ही अमेरिकन अंग्रेजी बोलें या अंग्रेजों जैसी अंग्रेजी, उनकी जीभ, जीभ माने अस्तित्व, अस्तित्व माने मानसिक आजादी, विखंडित हो जाती है। फलतः दक्षिण अफ्रीका का एमांडला (आजादी की पुकार) और भारत का जयहिन्द, स्लमडॉग मिलेनियर के 'जय हो' में तब्दील हो जाता है और टेलिविजन पर आधुनिकता से आक्रांत एक हिन्दी कवि 'जय हो' की जड़ खोजते हुए महाभारत तक पहुंच जाता है।

भारतीय गणतंत्र के महापर्व के बाद मई माह में जो सरकार पुनः सत्ता में आती है, वह आर्थिक प्रगति के साथ जिस लिबरलाइजेशन के नारे को और तेज स्वर में हुंकारती है वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'भारतीयता तथा भारतीय परम्परा की रखवैया' विपक्षी राजनीति से भिन्न नहीं लगता। नतीजतन उत्तर औपनिवेशिक भारतीय गणतंत्र के सपनों एवं आकांक्षाओं में 'स्लमडॉग मिलेनियर' का स्लम, भारतीय गरीबी एवं आई.टी. मेधा को वैदिक मेधा बता कर उसकी चाशनी विश्व बाजार में बेचते हुए भारत के विकास एवं अमीरी का इतिहास रचा जा रहा है। ऐसे में गरीबी की पैकेजिंग एवं डालर की प्राप्ति के लिए फटी हुई जीभ एक आस्तित्विक जरूरत हो जाती है।

पूरी दुनिया के बनने की प्रक्रिया में औपनिवेशिकता के विकास एवं प्रसार के साथ साथ, आधुनिकता के प्रसार की भी महत्वपूर्ण घटना हुई। अपना सब कुछ छूटता गया तथा दूसरे के काफी कुछ को अपना बनाने का भगीरथ प्रयास चलता रहा। 'गैर' के अपने 'स्व' में रूपांतरण की प्रक्रिया सहज न होकर इतनी दमनात्मक रूप से आरोपित हुई कि हमारी आत्मा में विखंडन पैदा हो गया। यह दरार हमारी जीभ के फटने में अभिव्यक्त हुई। हालांकि कुछ लोग कहेंगे कि यह आप गलत कह रहे हैं। यहां तो यह हुआ है कि मालिक से ज्यादा अच्छी भाषा गुलाम की हो गयी है। देखिये न, गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक की अंग्रेजी या सलमान रुश्दी, अरुंधती रॉय, विक्रम सेठ, झुम्पा लहरी का अंग्रेजी नॉवेल या स्लमडॉग मिलेनियर जैसी फिल्म, अर्थात् हर कोई खुश। मालिक खुश है कि गुलाम को आजाद करने के बाद भी उसकी आजादी में पुनः गुलामी की सम्भावना बना कर हम शामिल हैं। गुलाम खुश है कि देखो न, कैसे और कितना वह अपने मालिक जैसा दिख रहा है। 'व्हाईट गिल्ट' (गोरों का अपराधबोध) के तहत मालिक देशों ने अपनी प्रजा देशवासियों को आकर बसने, छोटी मोटी नौकरियां करने का खुला आमंत्रण दे रखा है। यह अलग बात है कि मालिक और 'पूर्व गुलाम' का यह स्वरूप औपनिवेशिक समय के 'कामिया मालिक' सम्बंध के तहत ही स्वरूप लेता दिखायी पड़ता है।

कहा जा सकता है कि आज के उत्तर आधुनिक समय में जब काला बनाम सफेद के बजाय 'ग्रे एरिया' पर ध्यान देने पर जोर दिया जा रहा है, जब राष्ट्रीय सीमाएं अस्पष्ट होती जा रही हैं, जब पूरा विश्व एक दूसरे के लिए खुलता जा रहा है, ऐसे में दो विपरीतों को खोजने की प्रक्रिया कितनी ठीक है? ऐसे में हम क्यों न 'विरुद्धों का सामंजस्य' खोजें? तो आइये बाघ और बकरी के एक घाट पर पानी पीने के उदाहरण से गुलामी एवं मुक्ति की प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करें। भारत को आजादी मिलने के बाद एक अंग्रेज साहब का परिवार देहरादून में रह गया था। वह परिवार भी कुछ

दिन बाद अंततः इंग्लैण्ड लौट गया। किन्तु बंगला एवं उसके खानसामा देहरादून में ही फूट गये। जब गोरा साहब यहां पर थे, तो खानसामा जिस तरह से एप्रिन पहन कर एक कर्मकांड की तरह खाना परोसता था, उसकी अनुपस्थिति में भी वह खानसामा रोज लंच एवं डिनर के समय वही पूरी प्रक्रिया दुहराता। उसके बाद वहां बैठ कर स्वयं खाना खाता। यह सिलसिला खानसामा की मृत्यु तक बदस्तूर चलता रहा। यानी उसके मानसिक जगत के साथ देह व्यवहार में भी मानसिक गुलामी का भाव इतना बैठ गया था या उसने मालिकत्व के इन प्रतीकों को इतना आभ्यंतरीकृत कर लिया था, कि वह इनके बिना रह ही नहीं सकता था। उसकी देह शक्तिसम्बंधों के एक क्षेत्र (साइट) में तब्दील हो गयी थी, जिसके कारण वह लंच और डिनर के समय तो अपने को अंग्रेज साहब का खानसामा समझता था, किन्तु खाना खाते समय स्वयमेव गोरा साहब में बदल जाता था। ऐसी फटी हुई अस्मिता एवं जीभ लेकर वह अपने अंतिम वक्त तक जीता रहा। इस तरह मालिक बनाम कामिया सम्बंध को देखें तो संकरता का, ग्रे एरिया के सच का यह हाल भी हो सकता है। कामिया में मालिक के प्रति निर्भरता संलक्षण (डिपेण्डेन्सी सिण्ड्रोम) इतना बढ़ सकता है कि वह आजाद होने से ही इंकार कर दे। उसे गुलामी ही भाने लगे। कामिया यहां प्रतीक है औपनिवेशिक शासन का। कामिऔती प्रथा नहीं है, अपने तर्क के समर्थन में यहां एक तथ्य का उल्लेख कर दूं। अंग्रेजों ने जब 1920 में ऐक्ट के माध्यम से 'कामिऔती' को समाप्त कर कामिया के आजाद होने का मार्ग प्रशस्त किया तो दक्षिण बिहार के कामियाओं ने अपने भीतर फैल गये 'निर्भरता संलक्षण' के कारण आजादी लेने से मना कर दिया और 'जय हो' का रास्ता चुना। पति के शव के साथ पत्नी के सती होने के पीछे भी यही डिपेण्डेन्सी सिण्ड्रोम होता है एवं कई बार गोड़ैत और कामिया भी मालिक की चिता के साथ जल कर मर जाते थे। भारतीय संसद के लिए हाल ही में हुए चुनाव में कांग्रेस की चुनावी सफलता के महत्वपूर्ण कारण के रूप में जिस नरेगा को फटी जीभ शासित मीडिया द्वारा गौरवान्वित किया गया एवं 'राहुल के कृष्णरूपी अवतार' के सामने अपनी आत्मालोचना खोते हुए हमारा सवर्ण मन भी गौरव गान में शामिल हो गया, उस वक्त हमने यह नहीं सोचा कि किस प्रकार नरेगा में गांव के श्रमिक गरीब एवं दलित को कामिया के रूप में तब्दील कर दिया गया है। मालिक की जगह आज यू.पी.ए. सरकार है और गरीब प्रजा 'कामिया' है। इसके तहत 'जॉब कार्ड' रखने वाले अपने निवास से पांच कि.मी. में परिधि में अकुशल श्रमिक की अस्मिता में बंध जाते हैं। यह ठीक है इससे गांवों में दलितों के हाथ कुछ पैसा पहुंच जायेगा, किन्तु उदारीकरण के इस दौर में शाश्वत गरीबी का यह क्षणिक समाधान भारतीय जनतंत्र की कितनी मजबूरी है एवं कितनी जरूरत, इस पर अभी विचार होना है।

साहित्यिक जनतंत्र में फटी जीभ की पहचान

पिछले दिनों बड़ी तेजी से कई शहर 'मेट्रोपोल' में तब्दील हुए। मॉल एवं मल्टीप्लेक्स बढ़े। ये 'मेट्रोपोल' बाहर के मॉल के प्रसार केन्द्र के रूप में हमारे यहां विकसित हुए हैं। प्रसिद्ध नृत्यशास्त्री अर्जुन अप्पादुरई जिसे 'मीडियास्केप' कहते हैं, उसने इन मॉलों को कस्बों तक पहुंचाया। इस परिदृश्य में लोगों की नगरों तक आवाजाही से उनका विकास 'क्रिटिकल पब्लिक' के रूप में न होकर बाजार के अकर्मक उपभोक्ता (पैसिव कन्ज्यूमर्स) के रूप में हुआ। इस रूपांतरण ने रुचियों, स्वादों एवं चाहतों में एकरूपता (होमोजेनाइजेशन) निर्मित करते हुए 'बुद्धकालीन नगर' का नहीं अपितु भूमंडलीकरण उत्पादित मेट्रोपोल का प्रसार कस्बों एवं गांवों तक किया। इस मेट्रोपोल स्वाद ने 'अन्य स्वादों' यथा अनेक स्थानीय स्वादों का शोषण एवं नाश किया। शहरों से दूरस्थ की बड़ी आबादी ग्रामीण बाजार में तब्दील हो गयी। अपने को अग्रगामी एवं अन्य को पिछलग्गू बनाने के लिए इस मेट्रोपोल मानसिकता ने बाकी सबको क्षेत्रीय/प्रादेशिक (प्रोविन्शियल) बता कर उन्हें प्रतिगामी सिद्ध कर अपने नेतृत्व को

स्थापित करने का सिविलाइजिंग मिशन तेज कर दिया। इसी प्रक्रिया में इतर स्थानीय, क्षेत्रीय रुचियों, रंगों एवं स्वादों में से कुछ को बाजार ने अपने उत्पादों में हजम कर लिया। शेष को स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं आभिजात्यता के नाम पर या तो नकार दिया या मार दिया। इस महानगरीय बोध ने संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में अपने बोध से इतर जो 'अजूबा, आकर्षक एवं रंगीन' लगा, उसे अपने संदर्भ और सामाजिक टकरावों की प्रक्रिया से काट कर या तो सजावट के सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में व्याख्यायित किया या उन्हें दमित कर दिया।

साहित्य के संदर्भ में 'महानगरीय स्वाद' की अन्य साहित्यिक रुचियों एवं स्वादों पर हिंसक विजय के उदाहरण के रूप में यहां समकालीन साहित्यिक दुनिया से एक उदाहरण देना चाहूंगा। नब्बे के दशक में छोटे छोटे शहरों से अनेक नये कवि उभरे। उन्होंने अपने उभरने की लड़ाई को दिल्ली से शासित कविता से संघर्ष करते हुए सम्भव किया। चूंकि अनेक लोकभाषीय पृष्ठभूमि एवं अनेक जीवन भावों से ये कवि आये थे अतः उनमें भाषा, सांस्कृतिक भाव, लोकसंवाद, मुहावरे एवं डिक्शन की अनेकरूपता थी जो उसे एक सशक्त साहित्यिक हस्तक्षेप बना रही थी। औपनिवेशिक आधुनिकताबोध को समझते हुए भी ये कवि सूखी काव्यभाषा के दबाव को तोड़ कर लोकरागों से अपने को जोड़ रहे थे। आरा, पटना, भोपाल, गुना, सरगुजा, छत्तीसगढ़, इलाहाबाद (दिल्ली में जाकर भी जो अभी दिल्ली के नहीं हुए थे) से उभरे ये कवि हिन्दी कविता के जनपद का विस्तार करने के साथ साथ उसकी दुनिया को और गहरा कर रहे थे। ये अपने अनुरूप परम्परा रचते हुए स्वयं को निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार आदि से जोड़ रहे थे। किन्तु इसी समय हिन्दी कविता में प्रभुत्वशाली फटी जीभों ने बोलना शुरू कर दिया। अगर फूको के शब्दों में कहें तो उन्हें 'रिप्रेसिव हाइपोथिसिस' के तहत सरसरी नजर से देखना शुरू किया। कुछ अनुपस्थित तत्वों की तलाश के बहाने एक सर्वथा नकारबोध से इस नये काव्य परिदृश्य की व्याख्या की जाने लगी। किन्तु जो है वह क्या है? बताया गया वह तो 'इथनिक' है। अब आप अपने से इतर अभिरुचियों, ढंगों एवं स्वादों को इथनिक बताने की इस औपनिवेशिक विमर्शपरक रणनीति के छल को समझ रहे होंगे। औपनिवेशिक मालिक इसका व्यवहार जहां अपने शासित को आयत्त करने के लिए करते थे, वहीं साहित्य में महानगरीय आभिजात्य के अलम्बरदार इस शब्द का प्रयोग अपने से इतर भावबोध को खारिज करने के लिए कर रहे थे।

कई बार हम जिसका विरोध कर रहे होते हैं उसी को मजबूत भी कर रहे होते हैं। बाजार के विरोध में लाया जाने वाला 'इथनिक' शब्द और बाजार के मनोरंजन के लिए लोक जैसा विशेषण, हो सकता है बाजार के विरोध का मात्र एक फसाड रहा हो और अपने गहरे अर्थों में महानगर, पश्चिमी उत्पादों की तरह पश्चिम प्रभावित काव्यभाषा एवं भावबोधों का मिशनरी विस्तार, सिविलाइजिंग मिशन की तर्ज पर, स्थानीय अवकाशों (स्पेसेज) को समाप्त करने के लिए कर रहा हो। हर कुछ जो स्थानीय है, वह स्थूल एवं सरल काव्यभावों का अवकाश है एवं हर कुछ जो महानगरीय आभिजात्य बोध से जनित है वह सूक्ष्म, जटिल एवं उत्कृष्ट साहित्यिक संस्रोतों का अवकाश है, जो लोक है उसका कोई सामाजिक यूनीवर्स नहीं होता, ऐसी समझदारियों ने नब्बे के दशक में हिन्दी कविता में आ रहे लोक मिथकों, प्रतीकों, शब्दों, सांस्कृतिक लयों के संघर्षमय प्रतिरोधी यूनीवर्स को नकार दिया। महानगरीय आभिजात्यबोध वाले मूल्यों के कविता स्कूल ने केदारनाथ सिंह बनाम रघुवीर सहाय की बहस खड़ी करके अपनी स्वीकृति का विस्तार करना चाहा। कविता में अमूर्तन के मुरीद दिल्ली के कवियों का एक वर्ग अनेक छोटे छोटे बन बन कर बिगड़ने वाले शक्ति केन्द्रों में विभाजित रहने के बावजूद पत्रिका, साहित्यिक संस्थानों, पुरस्कारों और अखबारों में अपनी दखल के कारण साहित्यिक आकाश (स्फेयर) में एक 'होमो शक्ति केन्द्र' के रूप में प्रक्षेपित हो रहा था। यहां एक बात कहना जरूरी लग रहा है कि आरा एक नहीं है, एक आरा में कई आरा हैं एवं एक भोपाल में कई भोपाल। भोपाल के ही एक भोपाल ने 'बौद्धिक टफनेस' के नाम पर महानगरीय साहित्यिक स्कूल के मूल्यों को अपने सार्वजनिक

साहित्यिक व्यवहार में समर्थन देकर मजबूत किया। वाम एवं गैर वाम के स्थान पर साहित्यिक स्वाद की एकता महत्वपूर्ण हो गयी। इस प्रकार महानगरीय साहित्यिक मूल्यबोध सर्वत्र फैला हुआ था। दिल्ली एक साहित्यिक मेट्रोपोल के रूप में एक स्थान न रह कर एक परिघटना में तब्दील हो गयी थी। जैसे मेट्रोपोल पश्चिमी बाजार की रुचियों एवं बाजारों का विस्तार कस्बों तक कर रहा था, वैसे ही इनमें बैठे बौद्धिक, स्थानीय एवं सीमांत के अवकाशों को विजित करने पर आमादा थे। हालांकि मेट्रोपोल इस बात को समझने में चूक कर देता है कि उसमें भी एक सीमांत बैठा होता है। वह सीमांत का जितना नगरीकरण करना चाहता है सीमांत अनेक जगहों पर उसके मेट्रोपोलिटन गर्व को तोड़ता रहता है। नब्बे के दशक में भी मेट्रोपोल में गये अनेक सीमांत मन रखने वाले लेखक, कवि मौजूद थे, जो सीमांतों में साहित्यिक जनतंत्र का विस्तार होते देख खुश हो रहे थे। जैसाकि मैंने पूर्व में कहा कि मेट्रोपोल के ये शक्तिकेन्द्र स्वयं अंतर्विरोधों से भरे हुए थे। अतः इनमें से कई कविता के अन्य निर्मित हो रहे अवकाश (स्पेस) से नियंत्रित संवाद कर रहे थे या करने की इच्छा जता रहे थे। यहां प्रश्न यह नहीं है कि नब्बे के दशक में कितना महान साहित्य पैदा हुआ? प्रश्न इस बात का है कि नब्बे के दशक के साहित्यिक समय में क्या कुछ हो रहा था। नब्बे के दशक के बनने की प्रक्रिया का इतिहास क्या है? नब्बे के दशक की कविता में यह सब साफ दिख रहा था, पर कहानी में यह संघर्ष साफ नहीं था। इसका महत्वपूर्ण कारण है कि अपने विधागत कारणों से कहानी की जीवनी शक्ति बहुयथार्थ से विवरण आत्मक संवाद एवं पाठकों की बहुलता से संचालित होती है। फलतः इस दौर में कहानी के आभिजात्य मूल्यबोधों से आंतरिक प्रतिरोध ने अपने को ज्यादा बलवान बनाते हुए कहानी को बचा लिया। जबकि कविता में उसके द्वारा उत्पन्न किये गये सर्वग्रासी संकट ने कविता पर ग्रहण की तरह लग कर उसकी रचना, आलोचना एवं व्याख्या के फलक में एक अजीब सम्भ्रम एवं अराजकता की स्थिति पैदा कर दी। साहित्यिक नैतिकता एवं शब्द के प्रति प्रतिबद्धता आज कविता की व्याख्याओं से न जाने कहां चले गये। कहानी के साथ बेहतर स्थिति यह थी कि कहानी के परिदृश्य में मेट्रोपोल आज जितना सशक्त है उतना नब्बे के दशक में नहीं था। फिर मेट्रोपोल के बाहर भी जो बड़े कहानीकार थे, जो शक्तिकेन्द्र बन कर कथा साहित्य में एकरूपता बढ़ा सकते थे, वे नब्बे के दशक में लगभग चुप थे। फलतः कथा साहित्य में स्वाद का एकरूपीकरण एवं इतर स्वादों की वैसी हत्या नहीं हो पायी, जैसी कविता में हुई। उदय प्रकाश दिल्ली में रह कर भी दिल्ली को चिढ़ाते रहे, अखिलेश और सृजय फटी हुई जीभों में न बोल कर लोकसमाजों के नये रूपांतरण में अपनी भाषा तलाशते रहे। कविता में भी नियंत्रित एवं निर्देशित औपनिवेशिक चेतना निर्माण की प्रक्रिया के तहत सामाजिक संघर्षों की अभिव्यक्ति के अवकाश को सीमित कर दिये जाने के बावजूद भी कुमार अम्बुज, अनामिका, नवल शुक्ल, विमल कुमार उन्हें वाणी देते रहे। यह बत्तीस दांतों के बीच जीभ बचाने जैसी लड़ाई थी। हालांकि कहानी में पाठकों की सजीव उपस्थिति एवं शक्ति केन्द्रों का सीधा हस्तक्षेप न होने के कारण सामाजिक संघर्षों की छवियों के आने के दरवाजे ज्यादा खुले रहे।

आधिपत्य का बोध ही कविता को मारता है। इस कारण कविता परिदृश्य में जो भी शक्ति संरचना केन्द्र बन रहे थे, स्वयं उनकी कविता तो मरी ही, साथ ही कविता के जनपद का प्रसार करने वाली, उसको बहुल बनाने वाली कविता का आना भी अवरुद्ध हुआ। इस तरह साहित्यिक जनतंत्र के देश में सत्ताशालियों ने इतर प्रवृत्तियों की हत्या की तो खुद भी आत्महंता होने से बच नहीं पाये। उक्त प्रक्रिया का परिणाम हुआ एक थोथा, सारहीन, रूपहीन साहित्यिक शून्य। लेकर क्या मेट्रोपोल साहित्यिक मूल्य से इतर साहित्यिक बोधों ने उसे सहज ही स्वीकार किया? या कहीं और कभी प्रतिरोध भी किया? अगर आप साहित्य के समकालीन इतिहास को देखें तो साफ दिखता है कि उसका प्रतिरोध हुआ। केदारनाथ सिंह, आलोकधन्वा, ऋतुराज, राजेश जोशी, अरुणकमल एवं ज्ञानेन्द्रपति जैसे कवियों की इस समय उपस्थिति मात्र से कविता में जनतंत्र एवं जनवाद के विस्तार का अवकाश बना रहा। इस

क्रम में 'वसुधा' पत्रिका का कुमार अम्बुज के सम्पादन में निकला अंक भी महत्वपूर्ण है। इस दौर के कवि एवं रचनाकार अपने समय के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर बन कर इसलिए उभर सके क्योंकि इन्होंने अपने भीतर प्रतिरोधी जीवनी शक्ति को बनाये रखा। लेकिन महानगरीय यथार्थ के कवियों की काव्येतर शक्ति के कारण महानगरेतर काव्यबोध, भाषा, सांस्कृतिक भावों का आगमन कम हुआ, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

एक मारक एकरूपीकरण कविता को खाये जा रहा है। फटी हुई जीभ की ही कविता महत्वपूर्ण है, गैर की नहीं, ऐसी मान्यता स्थापित करने की कोशिश जारी है। फिर भी कविता में महानगर से इतर काव्य संवेदना अपने अवकाश एवं उत्तरजीविता (सर्वाइवल) की लड़ाई लड़ रही है।

स्थानीय, सीमांत एवं प्रोविन्शियल

स्थानीय, सीमांत जिसे मेट्रोपोल 'प्रोविन्शियल' कहता है, वह अपने आप में अलग थलग सेक्ट्यूडेड या गांधीवादी शब्दों में कहें तो आत्मनिर्भर इकाई नहीं है। वह अपने 'बाहर' से सतत संवाद में रहता है। बेनेडिक्ट एण्डरसन अपनी नयी पुस्तक 'अंडर द थ्री फ्लैग' में इंडोनेशिया के समाज का अध्ययन करके बताते हैं कि किस प्रकार यहाँ उभरे स्थानीय संघर्ष राष्ट्रीय प्रकृति के औपनिवेशिक संवादों के प्रभाव से भी पैदा हुए। किन्तु इस प्रक्रिया में 'स्थानीय प्रवृत्तियाँ' अपनी मूल प्रवृत्तियों का संवर्द्धन बाहरी प्रभावों से संवाद के साथ करती हैं न कि उनमें पूरी तरह घुल कर उनकी ऐसी नकल करती हैं कि उनकी अपनी अस्मिता ही खत्म हो जाय। अपनी अस्मिता का विखंडन वे रोक नहीं सकतीं पर उस विखंडन अर्थात् जीभ फटने के दर्द, अहसास एवं कारणों से उनका आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष चलता रहता है तभी तो न्यूगी गा थ्योंगों 'डिकोलोनाइजिंग माइंड' जैसी पुस्तक लिख पाते हैं। आज सीमाएं समाप्त हो रही हैं पर स्थानीयता 'एसर्ट' भी कर रही हैं। स्थानीयताओं का यह रिको प्रेजेन्टेशन बाजार अपने में शामिल कर उन्हें खत्म न कर दे या वे नस्लीयता में न बदल जायें — इन खतरों की ओर हमें ध्यान देना ही होगा। किन्तु स्थानीयताएं अपने ऊपर प्रभावी आधिपत्यशाली साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की नकल कर वैसी ही कविता, वैसी ही कहानी लिखने लगें, वैसी ही सपने, वैसी ही आकांक्षाओं में डूबने उतराने लगें, तो चिन्ता बढ़ जाती है। वे अपने प्रतिरोध को, जो उनकी जीवनीशक्ति है, जब तक जिलाये नहीं रखेंगी, तब तक उनके ग्रहण को रोक पाना सम्भव नहीं है। मेट्रोपोल के स्वीकृत मुहावरे में ही अपने अनुभव कहते हुए यदि कोई स्थानीय बोध से जुड़ा हुआ रचनाकार यह सोचे कि मैं बात तो अपनी ही कह रहा हूँ एवं इससे मुझे दोनों दुनियाओं में स्वीकृति मिल सकेगी तो यह एक भयानक गलती होगी। सामूहिक इतिहास, परम्परा एवं आधुनिकता के टकरावों ने जितना संश्लेषण एवं अनुभव स्थानीयताओं की रगों में प्रवाहित कर रखा है, वह अकूत है। उन संश्लेषणों की तलाश शायद एक नया कविता विश्व रचने में हमारी मदद करे। कहन एवं कथन के 'टाइड' अनुभवों की एकरसता साहित्य के जनतंत्र में मेट्रोपोल से प्रक्षेपित होकर रचनात्मक समय में आवृत्त होते हुए हमारी रचनात्मक मानसिकता एवं अस्तित्व का हिस्सा बनती जा रही है। इनसे आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष रचना जगत में फैल रही मारक एकरूपता का काउंटर करने के लिए जरूरी प्रतीत होता है।

घूमी हुई जीभ : साहित्य, जनतंत्र एवं लोग

लेकिन इस संघर्ष की मुख्य समस्या यह है कि जो जीभ फटी नहीं है वह न जाने क्यों घूमी हुई है। अर्थात् आधिपत्य के जिन ढांचों से वह अपनी लड़ाई लड़ रही है उस लड़ाई का व्याकरण नहीं विकसित कर पा रही है। स्वतःस्फूर्त लड़ाई संघर्ष के प्राथमिक दौर के लिए तो जरूरी हो सकती है किन्तु

स्वतःस्फूर्ति अकेले किसी संघर्ष को लम्बा जीवन नहीं दे सकती। जब तक आंतरिक संघर्ष स्पष्ट, मुखरित एवं व्यवस्थित नहीं होगा, तब तक आभिजात्यशील से 'इतर' को बचाने की लड़ाई चल नहीं सकती। पारम्परिक मार्क्सवादी भाषा में कहें तो साहित्य में मानसिक आजादी बनाये रखने की लड़ाई में 'कामिया' को अपने भीतर 'सर्वहारा चेतना' विकसित करनी ही होगी। नहीं तो जिसका हमें प्रतिरोध करना है वह हमें इतना मोहक लगने लगेगा कि हम दीये की तरफ जाने वाले पतिये की तरह हो जायेंगे और जल कर भस्म हो जायेंगे। घूमी हुई जीभ के कारण कई जगह कई बात बोलने की समस्या भी खड़ी होती है। आदमी कई जगह कई बातें दूसरों को खुश करने के लिए बोलने लगता है। लगता है वह जो बोल रहा है वह अपने समकालीन क्रिटिकल वातावरण में किसी व्यक्ति से न बोल कर सामंती समय के अपने पालक से बोल रहा है। तभी मुक्तिबोध का यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है (पार्टनर) तुम्हारी पालिटिक्स क्या है? त्वरित लाभ की चालाकी उसमें प्रतिरोध की शक्ति को क्षीण तो करती ही है, साथ ही 'क्रिटिकल लिट्ररी पब्लिक' के रूप में उसके रूपांतरण को भी रोक देती है। कुछ समय प्रतिरोध की एजेन्सी के रूप में सक्रिय होकर वह अंततः एक 'कामिया' की दशा में शेष रह जाता है।

यह समस्या न केवल साहित्यिक जनतंत्र की है बल्कि भारतीय जनतंत्र की भी है। अभी हाल में सम्पन्न हुए संसदीय चुनाव में जब हम लोग एक गांव में जनतंत्र की संस्कृति का अध्ययन कर रहे थे, ऊंची एवं मध्य जातियां चुनाव पूर्व अपना राजनीतिक पक्ष बताने से कतरा रहीं थीं। एक सम्भ्रम बनाये रखना चाह रही थीं, वहीं दलित जातियां अत्यंत मुखर हो अपना पक्ष जता रहीं थीं। इलाहाबाद के पास शहाबपुर गांव की पटेल जाति की एक महिला निर्मला देवी जो भारत माता के देश की एक तथाकथित सशक्त (इम्पावर) जनतांत्रिक महिला बनने की प्रक्रिया में हैं, कहती हैं — *"चुनाव के पहले केका वोट देवे के है, न बतावे का चाही। चुनाव के बाद जो जीत जाये, ओही से कहब वोट न दिहे तो जीत जाते का।"* अर्थात् चुनाव के बाद जो जीत जायेगा उसी से कहेंगे — वोट आप ही को दिया है, आपके उम्मीदवार को ही दिया है। वोट नहीं देते तो जीत जाते क्या? जिस जनतंत्र में एक आदमी में अनेक जीभ — राजनीतिक व्यवहार की अस्पष्टता — सत्ता से निगोशिएट करने शैली की बन जाये, वहां के साहित्य, संस्कृति एवं जनतंत्र के प्रसार में लगी शक्तियों को अपने पर एवं अपने समय पर विचार करना ही होगा।